

अग्नि-दाह

भयंकर दुःख के साथ वह भीषण द्वन्द्व में भी फंसा था। काका की चिता लगभग सज चुकी थी; चन्दन, थी, कपूर आदि डालकर उनके अन्तिम संस्कार की सभी तैयारियां पूरी कर ली गई थीं। अब बारी थी, तो चिता को मुख्याग्नि देने की।

चारों पुत्रों में ज्येष्ठ होने के कारण वह उसका जन्मजात अधिकार भी था और परम्परा भी। लेकिन उसके अन्तर्मन में तो कुछ और ही चल रहा था।

वह काका का सबसे प्रिय पुत्रा है, काका से जितना प्यार-दुलार उसे मिला है, काका का जितना स्नेह-सान्निध्य उसे प्राप्त हुआ है, उतना तो अन्य तीनों भाइयों को मिलाकर भी प्राप्त नहीं हुआ होगा। तीसरे-चौथे बेटे के सम्बन्ध तो काका से ठीक ही थे, पर दूसरे की उनसे कभी नहीं बनी।

दूसरे को काका से क्यों और क्या-क्या शिकायतें रहीं, यह वह कभी समझ नहीं पाया। वह तो इतना जानता था कि काका वैसे बिल्कुल नहीं थे, जैसा दूसरा सोचता था। उसकी दृष्टि में दोष दूसरे का ही था, जिसके मन में काका के प्रति अकारण घृणा भरी थी।

आज उसने दूसरे के मन की उस सारी घृणा को काका को नष्वर देह के साथ ही, भस्म करने का निर्णय कर लिया। इसके लिए अपना अधिकार भी छोड़ने को तैयार था वह।

“बेटा, चिता को मुख्याग्नि दो।” पूला थमाते हुए पंडित जी ने उस से कहा था।

पूला दूसरे की ओर बढ़ाते हुए उसने कहा—“चिता को मुख्याग्नि दूसरा देगा।”

“नहीं बेटा, यह तो बड़े का अधिकार होता है।” पंडित जी ने समझाया—“और परम्परा तथा शास्त्रीय विधान भी यही है।”

“ये सब पुरानी और दकियानूसी बातें हैं पंडित जी। मैं इन्हें नहीं मानता।” उसने स्पष्ट किया और इससे पूर्व कि वहां उपस्थित अन्य लोग कुछ जानते, समझते या कहते, उसने दूसरे का हाथ पकड़कर काका की चिता को प्रज्वलित करवा दिया।

अश्रुपूरित आंखों से वह देख रहा था कि एक ओर काका का पार्थिव शरीर साक्षात् अग्नि में जल रहा था, तो दूसरी ओर दूसरे का तन-मन पश्चाताप की अग्नि में।